भक्तसर्वस्वम्

हे मैथिलीहृदयपङ्कजभृङ्गराज ! हे स्वीयभक्तजनमानसराजहंस !
हे सूर्यवंशविभुवैभव ! रामचन्द्र ! त्वत्पादपङ्कजरजः शरणं ममास्तु ॥१॥

हे श्री जानकीजीके हृदयकमलके भ्रमर ! हे स्वभक्तजनों के मनोरूपमानसरोवर के राजहंस ! और हे सूर्यवंश के सर्वस्व श्रीरामजी महाराज ! आपके चरणकमल की रज मेरी रक्षा करे ॥१॥

हे मैथिलीहृदयपङ्कजकञ्जनाथ ! हे भक्तवत्सल ! कृपाकर ! राघवेन्द्र !
हे दीनरक्षक ! शरण्य ! सुखस्वरूप ! त्वत्पादपङ्कजरजः शरणं ममास्तु ! ॥२॥

हे श्रीजानकीजी के हृदयकमलको विकसित करनेवाले सूर्य ! हे भक्तवत्सल ! हे कृपासिन्धु ! दीनों के रक्षक ! हे सबको शरण देनेवाले और हे सुखस्वरूप भगवान् श्रीरामजी महाराज ! आपके श्रीचरणकमल की रज मेरी रक्षा करे ॥२॥

हे मैथिलीहृदयभूषण ! कान्तकान्ते ! हे नीलपद्मरुचिराङ्घ्रियुग ! स्वयम्भो !
हे विश्वनाथ ! रघुनाथ ! वरेण्यकीर्ते ! त्वत्पादपङ्कजरजः शरणं ममास्तु ॥३॥

हे श्रीजानकीजी के हृदयालङ्कार ! हे सुन्दरकान्तिवाले ! हे नीलकमलसमान सुन्दरचरणवाले ! हे कारणरहित ! हे विश्वनाथ ! और हे प्रशस्तकीर्तियुक्त भगवान् श्रीरामजी महाराज ! आपके श्रीचरणों की रज मेरी रक्षा करे ॥३॥

हे मैथिलीहृदयमन्दिरशुभ्रमूर्ते ! हे वायुपुत्रपरिषेवित पद्मपाद !
हे आशुतोष ! जगदीश्वर ! भक्तिलभ्य ! त्वत्पादपङ्कजरजः शरणं ममास्तु ॥४॥

हे श्रीजानकीजी के हृदयमन्दिर की सुन्दरमूर्ति ! हे श्रीहनुमान्जी से सेवित ! हे शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, हे भक्तिमात्र से प्राप्त करने योग्य ! हे जगदीश्वर श्रीरामजी महाराज ! आपके चरणों की रज मेरी रक्षा करे ॥४॥

हे मैथिलीहृदयराजमणे ! रमेश ! हे सर्वज्ञ ! प्रणतपालक ! दीनबन्धो !
सृष्टिस्थितिप्रलयलील ! महानुभाव ! त्वत्पादपङ्कजरजः शरणं ममास्तु ॥५॥

हे श्रीजानकीजी के हृदय के चिन्तामणि ! हे सर्वव्यापक ! हे प्रणतपालक ! हे दीनबन्धो ! हे सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप लीला करनेवाले ! महातेजस्वी श्रीरामजी महाराज ! आपके चरणकमलों की रज मेरी रक्षा करे ॥५॥

हे मैथिलीहृदयवल्लभ ! रूपराशे ! हे सर्वद ! श्रुतिवचस्स्तुत ! राघवेश !
हे पापपुञ्जदहनानल देवदेव ! त्वत्पादपङ्कजरजः शरणं ममास्तु ॥६॥

हे श्रीजानकीजी के परमप्रिय ! हे रूपनिधे ! हे सबकी मन कामना को पूर्ण करनेवाले, वेदवचनों से स्तुत ! हे सम्पूर्ण पापों को भस्म करदेनेवाले, हे देवताओं के भी पूज्य श्रीरामजी महाराज ! आपके चरणों की धूलि मेरी रक्षा करे ॥६॥

हे मैथिलीहृदयहार ! मनोजमूर्ते । हे शर्वरीशविमलानन ! सर्वशक्ते ! हे भक्तवश्य ! करुणालय ! नित्यभूते । त्वत्पादपङ्कजरजः शरणं ममास्तु ॥७॥

हे श्रीजानकीजी के हृदय के हार ! हे परमसुन्दर मूर्तिवाले ! हे चन्द्रसमान सुन्दर मुखवाले ! हे सर्वशक्तिसम्पन्न ! हे भक्तों के वश में रहनेवाले ! हे परमकारुणिक ! नित्यविभूतियुक्त श्रीरामजी महाराज ! आपके चरणकमलों की धूलि मेरी रक्षा करे ॥७॥

हे मैथिलीहृदयवास ! जगन्निवास ! हे भूमिभारहृदयनीश ! जगच्छरण्य !
हे राम ! हे रघुपते ! रघुवीरधीर ! त्वत्पादपङ्कजरजः शरणं ममास्तु ॥८॥

हे श्रीजानकीजी के हृदयमें निवास करनेवाले, हे सर्व जगत् के आश्रय ! हे पृथ्वी के भार को हरण करनेवाले ! अनीश जिसका कोई ईश न हो; अर्थात् स्वतन्त्र ! हे सबको शरण देनेवाले ! हे रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजी महाराज ! आपके श्रीचरणों की धूरि मेरी रक्षा करे ॥८॥

इति श्री परमहंस परिव्राजक जगदगुरु रामानन्दाचार्य स्वामि- श्रीभगवदाचार्य महाराजैः १९७६ तमे विक्रमसम्वत्सरे प्रणीतं भक्तसर्वस्वं समाप्तम् ॥

चतुष्पदी

त्वदीया या कान्तिर्जनकपुरवामाभिलषिता, जगद्वन्द्याऽनिन्द्या जनकतनयाया हृदि मता ।
यतीनां सर्वस्वं नवनवघनाभातिललिता, सकृद्रामस्वामिन् ! जगदधिपते गोचरयताम् ॥१॥

हे श्रीरामजी महाराज ! जनकपुर की सम्पूर्ण सुन्दर स्त्रियों ने आपकी जिस कान्ति को अपना परम अभीष्ट बनाया था, जो कान्ति जगदम्बा श्रीजानकी जी के हृदय में सदा विराजती है, जो विरक्तों के सर्वस्व तथा नूतन मेघ के समान अत्यन्त सुन्दर है, उस (कान्ति) को एक बार मुझे दिखा दीजिये ॥१॥

स्वकीयैः पापौघैर्भवभयमहामो हरजनी तमः पारावारे शरणरहितं हन्त ! पतितम् ।
महीजाश्रीस्वामिन् ! सपदि समवेक्ष्यार्तशरण ! ग्रहीतुं मां बाहुं द्रुतमिह समुत्थापय विभो ॥२॥

हे श्रीरामजी महाराज ! अपने अनेक पापों से संसार के भय और मोहरूप रात्रि के अन्धकार समुद्र में मुझ दीन को गिरा हुआ देखकर पकड़ने के लिये शीघ्र ही अपना भुज उठाइये ॥२॥

गजत्राणे याऽऽसीद् द्रुततमगतिस्तेऽतिसुखदा, तथा रक्षाकाले जनकतनयाया रघुपते ।
अनाथानां नाथ ! स्थितिमिह महागम्यजलधौ, ममीक्ष्य त्रातुं मामपि सपदि तां धारय विभो ॥३॥

हे श्रीरामजी महाराज ! गजराज और श्रीजानकीजी की रक्षा के समय जो शीघ्रतम गति आपकी थी अर्थात् आपने अपनी जिस शक्ति के द्वारा इन दीनों की शीघ्र रक्षा की थी, हे अनाथों के नाथ ! मुझे इस संसाररूप अगाधसमुद्र में डूबते देखकर बचाने के लिये शीघ्र ही उसी गति को धारण करें ॥३॥

यमाप्तुं प्राचीना मुनय ऋषयश्चापि सकला, जगद्दावैः खिन्ना वनतरुषु वासं विदधिरे ।
अहं रामस्वामिन् ! भवभयहर ! प्रार्थय इदम्, तमेवाद्य प्रेक्षे चरणविमलालोकमधुना ॥४॥

हे श्रीरामजी महाराज ! आपके श्रीचरणों के दर्शन हेतु जिस प्रकार मुनियों ने संसार से उदासीन होकर जङ्गलों में निवास किया था, उसी प्रकाश को मैं भी देखूं, हे भवभय भंजन ! यही प्रार्थना है ॥८॥

॥ इति श्री परमहंसपरिव्राजक जगद्गुरु रामानन्दाचार्यस्वामि श्रीभगवदाचार्य महाराजैः १९७६ तमे विक्रम सम्वत्सरे प्रणीता चतुष्पदी समाप्ता ॥

स्वाराज्यानुभवः

चन्द्रच्छायापहरणपटोः सौख्यमाधुर्यधाम्नः सन्तप्तानां परमसुखदैः श्रीमतो राघवस्य ।
शीतैः स्वच्छैर्मधुरमधुरै र्हास्यरूपप्रवाहै- रारात्तिष्ठन्निधिगतसुखः कल्मषं क्षालयामि ॥१॥

चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर, सुख और मधुरता के धाम, श्रीमद्राघव के उस हास्यरूप सरयू के प्रवाह से, समीप में बैठा हुआ मैं अपने पापों को धो रहा हूँ जो कि त्रिविध तापों से सन्तप्त चेतनों के लिए परमसुख प्रदाता है, स्वच्छ है और मधुरतम है ॥१॥

कश्चिद्गङ्गातटमधिवसन् पापपुञ्जं विमुञ्चन्, सत्कर्मादीन्विदधदपरो निर्मलत्वं प्रयाति ।
शोभां पश्यन्मधुरवचनस्येन्दुकान्ताननस्य, क्षीणं कुर्वे दुरितमखिलं स्वस्य सीतासखस्य ॥२॥

कोई गङ्गा तट पर निवास करता हुआ और कोई उत्तम कर्मों को करता हुआ निर्मल बनता है, परन्तु मैं मधुरभाषी, चन्द्रसमान मुखवाले, सीतानाथ भगवान् श्रीराम की शोभा को देखता हुआ अपना समस्त पाप धो रहा हूं ॥२॥

कश्चिद्गीतां पठति सततं प्रातरुत्थाय नित्यं, वेदान् कश्चित्पठति सुतरामात्मनिश्श्रेयसाय ।
शोभासिन्धोः शुभगुणनिधेः श्रीमतो राघवेन्द्रो- र्निर्व्याजं मे रटति रसना नाम कामं ललामम् ॥३॥

कोई तो प्रतिदिन प्रातः उठकर आत्मकल्याण के लिये गीता का पाठ करता है और कोई नित्य वेदाध्ययन करता है और मेरी जीभ शोभाधाम, अखिलहेय प्रत्यनीक गुणगण मंडित श्रीसीतापति राम के सुन्दर नाम को शुद्ध भाव से निरन्तर रट रही है ॥३॥

दीनोद्धाराप्रतिहतगतेः सर्वकल्याणधाम्नो, रम्याभोजोपमितवपुषो राघवाम्भोजमानोः ।
कान्तं शान्तं सरसमनघं सर्वसच्चित्तहारी, लक्ष्यं यत्तन्मृदुनि वदने मार्दवं शं तनोति ॥४॥

दीनोद्धार परायण, सर्वकल्याण निकेतन, सुन्दरकमल कोमलकाय, रघुकुलकमल दिवाकर श्रीराम के मुख पर कान्त, शान्त, सरस, निर्दोष और सत्पुरुषों के चित्त को हरण करने वाली जो मृदुता दीख पड़ती है वह मेरा कल्याण कर रही है ॥४॥

संसाराम्भः पटलकुटिलोत्तुङ्गरिङ्गतरङ्गैः-र्निष्कारुण्यं प्रतिपलमलं ताड्यमानं मनो मे ।
चिन्ताचक्रोन्मथितमभितः क्वथ्यमानं विपद्भि- र्दन्तज्योती रचयतितमां रामभद्रस्य शान्तम् ॥५॥

संसारसागर के कुटिल और बड़े-बड़े उठते हुए तरङ्गों से प्रतिक्षण मेरा मन अत्यन्त निर्दयता के साथ मारा जा रहा है, अनेक विपत्तियों से उबाला जा रहा है, चिन्ता चक्ररूप मथानी से मथा गया है। ऐसे मेरे मन को भगवान् श्रीराम के दाँतों का प्रकाश अत्यन्त शान्त कर रहा है ॥५॥

शान्ते शून्ये हृदयपटले दुर्बले मे विनम्रे, पापापारोदकनिधिसरद्विप्रतीसारतापम् ।
फुल्लाम्भोजामलदलदृशः श्रीमतो राघवस्य, हृद्यः सद्यः शमयतितमां दृष्टिकोणावपातः ॥६॥

मेरे शान्त, शून्य, दुर्बल और विनम्र हृदयपटल में मेरे पापों के अपारसमुद्र- में से उत्पन्न हुए पश्चात्ताप रूप अग्नि को, खिले हुए कमल के निर्मलदल प्रमान नेत्रों वाले भगवान् श्रीराम का मनोहर कृपा कटाक्षपात तत्काल ही शान्त कर रहा है ॥६॥

॥ इति श्री परमहंस परिव्राजक जगद्गुरु रामानवाचार्य स्वामिश्री भगवदाचार्यमहाराजैः १९७६ तमे विक्रमसम्वत्सरे प्रणीतः॥

प्रपन्नकल्पद्रुमः

श्रीजानकीजानिमुदारवृत्तं श्रिया समेतं श्रितकल्पवृक्षम् ।
ललामसाकेतमहालयं तं रघूत्तमं राममहं स्मरामि ॥१॥

उदारचरितवाले, सुन्दरसाकेतनिवासी, कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान, जानकीसहित राघवेन्द्र जानकीनाथ श्रीरामजी को मैं निरन्तर स्मरण करता हूँ ॥१॥

मुनीन्द्रशापाद् दुरपह्नवात्सा शिलात्वमेता मुनिराजपत्नी ।
यदीयपादाब्जरजः प्रभावान्नमामि तं प्राप तनुं सुभद्राम् ॥२॥

गौतम मुनि के अनिवार्य्य शाप से शिलाभाव को प्राप्त हुई अहल्या ने जिनके चरणकमल के रज के प्रभाव से कल्याणमय शरीर को प्राप्त किया उन्हीं श्रीराम को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

सदा दरिद्रे द्रवतः स्वदासान् कृपाकटाक्षाद् द्रवतो दयालो ।
कदा नु पङ्केरुहपादधूलि कणं तवाहं शिरसा स्पृशानि ॥३॥

हे दयालो ! दरिद्रों पर सर्वदा दया करनेवाले, निज जनों की सदा कृपाकटाक्ष से रक्षा करने वाले आपके चरणकमल की धूरि के कण को मैं कब शिर से स्पर्श करूंगा ॥३॥

निदर्श्य यन्नाथ निजं कटाक्षं विदेहपुर्यामखिला महेलाः ।
विदेहतां त्वं गमयाञ्चकर्थ कदा गतः स्यां पथितस्य तूर्णम् ॥४॥

हे नाथ ! आपने श्रीजनकपुर में समस्त महिलाओं को अपने जिस कटाक्ष को दिखाकर विदेह बना दिया था उसी कटाक्ष के मार्ग में मै कब शीघ्र आऊँगा ? अर्थात् आप कृपा कटाक्ष से मुझे कब देखेंगे ॥४॥

त्वद्भक्तिगङ्गालहरीसहस्त्रैः समुक्षितो नाथ कदा भवामि ॥
त्रितापतापादयुतः परेश ! श्वसन्मुहुः स्वस्थतमस्तवाहम् ॥५॥

हे नाथ ! हे परेश ! आपका दास मैं आपकी भक्ति भागीरथी की अनन्त लहरियों से सींचा गया हुआ, संसार के तीनों तापों से पृथक् होकर श्वास लेता हुआ पुनः कब अत्यन्त शान्त बनूँगा ॥५॥

मुनीन्द्र वृन्दारकवृन्दवन्द्य प्रफुल्लपायो जपदद्वये ते ।
जगद्वनेसंभ्रमिजागरार्तं प्रभो जनं स्वापय निर्भरं माम् ॥६॥

हे प्रभो ! संसाररूप जङ्गल में भ्रमण करने के कारण जागरण से दुःखित मुझ दास को आप परमश्रेष्ठ मुनियों के वृन्द से वन्दनीय तथा विकसितकमलसमान अपने चरणयुगल में अत्यंन्त गाढ़ निद्रा से सोने दीजिये ॥६॥

जागर्तु वीज्या यदि वीक्ष्य देव ! चयं त्वदीये हृदि मेऽहसां तत् ।
त्वमेव मां निर्दिश कान्दिशीको व्रजामि कस्याद्य पुरः शरण्य ॥७॥

हे दिव्यगुणयुक्त भगवन् ! यदि मेरे अपराधों के समूह को देखकर आपके भी हृदय में घृणा उत्पन्न होती हो तो हे शरण्य ! आप ही मुझे कहें, उपायहीन मैं आज किसके आगे जाऊँ ? ॥७॥

दुरन्तदुष्प्रेक्ष्यमहास्त्रवाब्धिकल्लोलसंलोलितमानसोऽहम् ।
अनाथसन्नाथ गतिं त्वदन्यां पश्यामि न क्वापि जगच्छरण्य ॥८॥

हे अनाथों के परमश्रेष्ठ नाथ ! हे जगन्मात्र के शरण्य ! दुरन्त और दुर्दर्शनीय महादुःख स्वरूप समुद्र के कल्लोलों से व्याकुल चित्तवाला मैं आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी गति नहीं देखता हूँ ॥८॥

निरन्तरावृद्धमहाज्ञतादुःक्षपाक्षिपां नाथ विधाय सद्यः ।
प्रदेहि मे त्वं ह्यनपायिनीं स्वां प्रपत्तिमानन्दरसप्रपूर्णाम् ॥९॥

हे नाथ ! निरन्तर चारों ओर से बढती हुई अज्ञानतारूप दुष्ट रात्रि का शीघ्र नाश करके अविनाशिनी तथा आनन्दरस से परिपूर्ण अपनी प्रपत्ति को मुझे प्रदान करिये ॥९॥

तवात्र यत्पादपुनर्भवोत्था पुनाति लोकानखिलान् हि गङ्गा ।
पुनर्भवः सैष पुनर्भवं मे धुनोतु नाथास्ति ममेति याञ्चा ॥१०॥

हे नाथ ! मेरी इतनी ही भिक्षा है कि आपके जिस चरणनख से उत्पन्न होकर श्रीगङ्गाजी इस पृथ्वी पर समस्त जनों को पवित्र कर रही हैं वही चरणनख मेरे पुनः पुनः आगमन को जन्म-मरण को नष्ट कर दे ॥१०॥

यतः प्रवृत्ता विमलोदका धुनी दिवौकसां शीतलयत्यहर्निशम् ॥
भवानलोत्तप्तजनुष्मती नवौषधीशशोभो नखरः पुनातु माम् ॥११॥

जिस नख से पवित्र सलिला गङ्गाजी निकलकर संसाररूप अग्नि से विदग्ध प्राणियों को सर्वदा शीतल कर रही हैं वही नवीनचन्द्र समान नख मुझे पवित्र करे ॥११॥

तवाधिनाम प्रथते महौषधं जनस्ययस्यैव मनस्यहर्दिवम् ।
न तत्समीपे रघुनाथ कर्हिचिद्विपत्पदाप्येति किमित्यतिक्रमः ॥१२॥

हे श्रीरघुनाथजी ! आपका परम पवित्रनामरूप महौषधि रात्रिन्दिव जिसके मन में निवास करती है उसके पास विपत्ति एक पल भी नही आती परन्तु आज यह विपरीत क्यों हो रहा है ? ॥१२॥

त्वमन्वाये तरणेः श्रियः पते ह्यसि प्रसिद्धस्तरणिर्जगत्त्रये
कथं तवाभ्यर्णमुपेत्य सम्प्रति प्रभो विषीदामि तमस्तमीचये ॥१३॥

हे श्रीपते ! तीनों लोक में प्रसिद्धि है कि आप सूर्यवंश में सूर्य हैं। तब हे प्रभो ! आपके पास आकर भी मैं अन्धकारपूर्ण रात्रि में क्यो खिन्न हो रहा हूँ ? ॥१३॥

भवार्णवे सम्पतितस्य भीषणे निराश्रयस्यास्य जनस्य तारण ।
दयानिधे विद्रुत एधि साम्प्रतं भवाद्य सद्यस्तरणिर्दृढाऽव्यया ॥१४॥

हे दयानिधे ! इस भयङ्कर भवसागर में पडे हुए इस निराश्रय दीन जन को तारने के लिये आप दयार्द्र हृदयवाले बनिये और शीघ्र दृढ तथा अविनाशिनी नौका बन जाइये ॥१४॥

मनश्च मे मत्त मतङ्गजोपमं भ्रमत्यजस्त्रं बहुधा शठे पथि
जगन्नियन्तस्तव पादपङ्कजे वार्यो हि अम्भोजचरणे तरस्वि तत् ॥१५॥

हे समस्त जगत के नियमन करनेवाले ! मेरा मन मतवाला हाथी समान सदा दुष्ट मार्ग में भ्रमण करता रहता है। आप इस बडे बलवाले मनरूप गज को अपने चरण कमलरूप खुंटे में बाध दीजिये ॥१५॥

जपस्तपः कोपि विधीयतां जनैः परं जगन्नाथ मया तु निश्चितम् ।
उदेतु चेन्नैव कृपा जनेषु ते त्रितापहानिर्मृगतृष्णिका परम् ॥१६॥

हे जगन्नाथ ! मनुष्य चाहे कोई जप करे या तप करे परंन्तु मैने तो निश्चय कर लिया है कि जब तक जनों के ऊपर आपकी दया नही होती तब तक त्रिविध दुःख की निवृत्ति केवल मृग-तृष्णा है ॥१६॥

प्रपञ्च पञ्चानन एष तिष्ठति प्रपच्य दंष्ट्राविषमं मुखं निजम् ।
अनन्तशक्ते त्वदन्ते कथंचन क्षमो च कोपीह विरक्षितुं परः ॥१७॥

हे अनन्त शक्तिवाले प्रभो ! यह प्रपञ्चरूप पञ्चानन सिंह अपने भयङ्कर मुख को फैलाकर बैठा हुआ है। आपके अतिरिक्त और कोई भी इस समय रक्षण करने में समर्थ नहीं है ॥१७॥

कियच्चिरं मे परिदेवनं विभो न नेष्यसि श्रोत्रपथं दयानिधे ।
अथायमप्यस्ति तु कापि केलिका हतोस्मि केलि प्रियदुःखितस्तदा ॥१८॥

हे विभो ! कब तक मेरे रुदन को आप न सुनेंगे ! हे दयानिधे ! क्या मेरे रुदन को न सुनना भी आपकी कोई क्रीडा है ? यदि ऐसा है तो हे क्रीडा के प्रेमी प्रभो मैं गरीब तो मारा गया ! ॥१८॥

यदि स्वयं त्वं गणयिष्यसि प्रभो सुसञ्चितान्मेऽपरिमेय दुर्गुणान्
कथञ्चिदप्यत्र न पारयिष्यसि श्रमो वृथा ते भविता प्रियोत्तम ! ॥१९॥

हे प्रभो ! यदि आप स्वयं मेरे सञ्चित अनन्त दुर्गुणों को गिनने बैठें तो आप कभी इसका पार न पावेंगे और हे परमप्रिय नाथ ! आपको व्यर्थ में श्रम होगा ॥१९॥

विहाय सर्वं जगदेकवैभवं विचारचातुर्य्यचमूं च संत्यजन् ।
अयं जनस्त्वच्चरणं प्रपन्नवान्विधे हि तद्यच्च विभातु ते शिवम् ॥२०॥

संसार के समस्त उत्तम वैभवों को छोडकर विचार की चतुराई को भी छोडकर हे नाथ ! यह दास आपके चरणों में प्राप्त हुआ है। आपको जो अच्छा लगे सो करिये ॥२०॥

वदामि सत्यं पुरुषोत्तमाहं सनाथयिष्यस्थ नो जनं स्वम् ।
तदा प्रसिद्धा तव नाथता साऽवशाऽकृतार्था भविताऽफलाढ्या ॥२१॥

हे पुरुषोत्तम ! मै सत्य कहता हूँ - यदि आप अपने जनको सनाथ न करेंगे तो आपकी प्रसिद्ध स्वामिता विवश होकर अकृतार्थ तथा निष्फल हो जावेगी ॥२१॥

न मादृशं चेत्पवितुं प्रवृत्तिस्तदा तु ते डिण्डिम एषकः कः ।
जगत्समग्रस्य शिवाय नित्यं प्रयत्नवान् राघव इत्यनल्पः ॥२२॥

हे प्रभो ! यदि मेरे जैसो को पवित्र करने के लिये आपकी प्रवृत्ति नहीं है तो यह बड़ा भारी डिण्डिम क्यों बज रहा है कि श्रीराघव समस्त जगत् के कल्याण के लिये प्रयत्नशील हैं ॥२२॥

कथं परीक्ष्या त्वयि संस्थिता या जगत्पवित्री तव शक्तिरेषा ।
न यावदस्मिन्नघिनि प्रयुक्ता कषे हि सा काञ्चन शुद्ध तेक्ष्या ॥२३॥

जगत् को पवित्र करनेवाली जो शक्ति आप में स्थित है उसकी परीक्षा तब तक कैसे हो, जबतक कि उसे आप मेरे जैसे पापी में प्रयुक्त न करें। क्योंकि सोने की परीक्षा तो कसौटी पर ही होती है ॥२३॥

अघान्यनन्तानि महान्ति नाथ ! न चेन्मयि स्युः कथमित्थमार्तः ।
स्थितस्तव द्वारि समश्रुनेत्रः प्रफुल्लराजीवलोचन स्याम् ॥२४॥

हे विकसितकमलसमान नेत्रवाले प्रभो ! यदि मुझमें बड़े- बड़े अनन्त पाप न होते तो मैं इस प्रकार आर्त बनकर, रोता हुआ आपके द्वार पर क्यों खड़ा रहता ? ॥२४॥

विश्वम्भरश्चेदसि वस्तुतस्त्वं विश्वानि पापानि मया कृतानि ।
विस्मृत्य विश्वम्भर मां भरस्व स्वनामयाथार्थ्यमथो भरस्व ॥२५॥

हे विश्वम्भर ! यदि आप वस्तुतः विश्म्भर हैं तो मेरे किये हुए समस्त पापों को भूलकर मेरा रक्षण करिये और अपने नाम की यथार्थता को धारण कीजिये ॥२५॥

त्वदीय सौन्दर्य महापयोधौ निमज्ज्य चात्मानमपास्य नाथ ! ।
त्वयैक्यमेवं भजतः प्रभो मे कदा प्रयास्यन्ति शुभान्यहानि ॥२६॥

हे नाथ ! आपके सौन्दर्य सागर में डूबकर, अपने को भूलकर आपके साथ ऐक्य को धारण करते हुए मेरे शुभ दिवस कब व्यतीत होंगे ? ॥२६॥

कदा तवैवाङ्घ्रिसरोजयुग्मे विलाप्य वृत्तीर्मनसोऽखिला मे ।
जगच्च हित्वा जगदेक देव लयोत्सुखस्वासुधां स्वदिष्ये ॥२७॥

हे भगवन् ! आपके ही चरणकमलों में अपनी मानसिक वृत्तियों का लय करके संसार को त्यागकर संसार के एक मात्र देव ! आपके साथ सायुज्य सुखरूप स्वादु-सुधा का मैं कब आस्वादन करूँगा ? ॥२७॥

महामुनीन्द्रैरपि दुर्लभं यद्भवत्पदाब्जस्खलितं कदा तत् ।
समुत्सुको नाथ रजो नतेन प्रचुम्ब्य मूर्ध्ना सुकृती भवेयम् ॥२८॥

हे नाथ ! बड़े-बड़े मुनियों के लिये भी जो दुर्लभ है उस आपके चरणकमल से स्खलित रज को अवनत मस्तक से चूमकर मैं कब कृतार्थ होऊँगा ॥२८॥

गजेन्द्रमोक्षाय कृता त्वरा या प्रपन्नसन्तान तु तां निरीक्ष्य ।
उपायहीनोऽतिशयेन दीनो जनः प्रभो त्वां ! शरणं प्रपन्नः ॥२९॥

हे प्रपन्नकल्पतरो ! गजेन्द्रमोक्ष के समय जो शीघ्रता आपने की थी उसे ही देखकर अन्य उपायों से हीन, अत्यन्त दीनजन मैं आपकी शरण में प्राप्त हुआ हूँ ॥२९॥

प्रत्यादिशद्वानुगृहाण वा मां जगन्निवासासि निरङ्कुशस्त्वम् ।
तवैव शोभा भजतां सुवृद्धि यथा तथा नाथ कुरुष्व शीघ्रम् ॥३०॥

हे जगन्निवास ! आप चाहे मेरा तिरस्कार करें चाहे मेरे ऊपर अनुग्रह करें । आप स्वतन्त्र हैं । आपकी ही शोभा जैसे बढ़े, हे नाथ ! शीघ्र वैसा करें ॥३०॥

इदं धनुश्चैष शरोऽसिरेष प्रपन्नरक्षाकरणाय नित्यम् ।
त्वया विभो सन्ध्रियते सदैव मदुद्धृतौ को नु विलम्बहेतुः ? ॥

हे विभो ! आप प्रपन्न की रक्षा के लिये ही धनुष्, बाण और खड्ग सदा धारण करते हैं । तब हे नाथ ! मेरे उद्धार में विलम्ब का क्या हेतु है ? ॥३१॥

तवैव नामामृतसिन्धुबिन्दुं पिबन्नरो नैव निपीड्यतेऽत्र ।
श्रुतं मयैतत्किमिति प्रभो तत्तवाश्रितो दुःखभरं प्रवीक्षे ॥३२॥

हे नाथ ! आप के नामरूप अमृतसिन्धु के बिन्दु का भी पान करता हुआ पुरुष इस संसार में पीड़ित नही होता, यह मैने सुना था । तब हे प्रभो ! यह आपका आश्रय लेने वाला मैं क्यों दुःखों का समूह देख रहा हूँ ॥३२॥

अये प्रभो चेच्छरणागतं मां निराश्रितो निस्स्वमुपायशून्यम् ।
उपेक्षसे तर्हि जगत्रयेऽपि कथं परीवाद उदेतु नो ते ॥३३॥

हे प्रभो ! यदि निराश्रित, निर्धन और उपायशून्य तथा शरण में आये हुए मेरे जैसे जन की आप उपेक्षा करेंगे तो तीनों लोको में क्यों न आपकी अपकीर्ति हो ? ॥३॥

त्वमेव वात्सल्यरसप्रपूर्णा कृपानिधे दीनजनस्य मेऽसि ।
आनन्दभूमिर्जननी कथं त्वां विहाय गच्छानि निराकृतोऽपि ॥३४॥

हे कृपानिधे ! मुझ दीन जन की वात्सल्य रस से पूर्ण आनन्द की भूमि, आप ही माता हैं। अतः हे नाथ ! आप से तिरस्कृत होकर भी आपको छोड़कर कैसे जाऊँ ? ॥३४॥

प्रवाहयन्तं नयनाम्बुराशि कथं समुद्धर्तुमिमं जनं भोः ।
उदेतु नाद्यावधि तावकीना मतिर्न वा स्यां विफलो ह्यदश्रुः ॥३५॥

हे प्रभो ! आँखों से आँसुओं को बहाते हुए इस जन के उद्धार करने के लिये अभी तक आपका विचार क्यों नही होता है ? क्या सचमुच रोता हुआ मैं निष्फल ही तो नही रहूँगा ? ॥३५॥

जानामि नो नाथ जपं तपो वा समाधिमुद्रां न च भक्तिभावम् ।
न धर्मतत्त्वं न च कर्मतत्त्वं त्वं हि भवाब्धेर्भव भव्यनौर्मे ॥३६॥

हे नाथ ! मैं जप, तप, समाधि अथवा भक्तिभाव तथा धर्मतत्त्व और कर्मतत्त्व आदि कुछ नहीं जानता हूं । अतः इस संसारसागर के लिये आप मेरी सुन्दर नौका बन जावें ॥३६॥

व्रजन्ति केचित्तव धाम योगतस्तथा च भक्त्या व्यभिचारशून्यया ।
अहं तु दीनो विदधामि राघव ! त्वदीयनामस्मरणाधिरोहणीम् ॥३७॥

हे श्रीराघव ! कोई तो योग के द्वारा आपके धाम में पहुँचते हैं और कोई अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा वहाँ प्राप्त होते हैं । परन्तु मैं दीन तो वहाँ पहुँचने के लिये आपका नामस्मरण रूप सीढ़ी बना रहा हूँ ॥३७॥

अथापि नो तारयितुं समीहसे जिघृक्षया कस्यचनापि वस्तुनः ।
प्रसिद्धनिस्स्वो वितरामि किन्नु ते गृहाण तुच्छं हृदयं तदातरम् ॥३८॥

कदाचित् आप मेरे पास से किसी वस्तु के लेने की इच्छा से मुझे पार करने की इच्छा न करते हों तो हे प्रभो ! मैं तो संसार में प्रसिद्ध निर्धन हूँ ! अतः मैं आपको क्या दूं ? तथापि इच्छा हो तो इस मेरे तुच्छ हृदय को किराये में ले लें ॥३८॥

स दैत्यसूनुर्वलतः कृशानोः सुरक्षितोभूद्दयया यया सा ।
क्व चाधुनागाद् रघुवंशनाथ ! क्रमे ममाभाग्यहतस्य हन्त ? ॥३९॥

हे श्रीरघुवंशनाथ ! जलती हुई आग में से जिस दया से आपने प्रहलाद की रक्षा की थी, हन्त ! वह दया मुझ अभागे के समय कहाँ चली गयी ? ॥३९॥

गुणैः पदं ते गुणिनो लभन्ते समर्चया वा तव राघवेन्द्र ।
भवाब्धिबाधाप्रसिताः परं ते क्वमादृशा भाग्यहताः प्रयान्तु ॥४०॥

हे श्रीराघवेन्द्र ! गुणीजन आपके पद को गुणों के द्वारा अथवा तो आपके पूजन के द्वारा प्राप्त होते हैं, परन्तु संसारसागर के दुःखो में फँसे हुए मेरे जैसे भाग्यहीन कहाँ जावें ? ॥४०॥

अपार संसार विषाहिदंशसंमूर्छितस्य श्रयतो मृतिं वा ।
श्रीरामनामाक्षरयुग्ममीड्यं मतः प्रशस्तो विषवैद्य एव ॥४१॥

हे भगवन् ! अपारसंसाररूप विषैले सर्प के दंश से मूर्छित अथवा मरण को प्राप्त होते हुए जन के लिये आपके नाम के स्तुत्य दो अक्षर ही प्रशस्त विषवैद्य है ॥४१॥

साकेतपुर्यां तव रामचन्द्र ! वरं कुरङ्गोऽथ खगो मृगो वा ।
प्लक्षादिवृक्षोऽपि वरं परं नो त्वद्देशविश्लेषवतो नृपत्वम् ॥४२ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी ! आपकी साकेतपुरी में खग, मृग और तो क्या, प्लक्ष आदि वृक्ष होकर रहना भी अच्छा है, परन्तु आपके देश से पृथक् रहनेवाले की नृपता भी अच्छी नहीं है ॥४२॥

यदा यदा यत्र कृतानुसाराल्लभेय जन्मानि च यानि यानि ।
तदा च तत्र त्वयि तेषु तेषु सन्तिष्ठतां भक्तिभरः सदा मे ॥४३॥

हे भगवन् ! स्वकर्मों के अनुसार जहाँ जो जन्म पाऊँ वहां उस जन्म में सर्वदा आप में मेरी अत्यन्त भक्ति बनी रहे ॥४३॥

न चास्ति किञ्चित्सुकृतं कृतं मे न भक्तिसेवा न च भक्तसेवा ।
निसर्गजा नाथ ! कृपैव तेऽद्य ममावलम्बोऽस्ति न किञ्चिदन्यत् ॥४४॥

हे नाथ ! मैंने कोई उत्तम कर्म नहीं किया है, भक्ति भी नहीं की है, तथा आपके भक्तों की सेवा भी नहीं की है। अतः निर्हेतुकी आपकी कृपा ही केवल मेरा अवलम्ब है, अन्य कुछ नहीं ॥४४॥

कदापि सोढं स्वजनस्य दुःखं त्वया न हे भक्तशिवप्रयत्न ! ।
न वेद्मि किं कारणमद्य यन्मामुपेक्षसे दीनतमं तमोघ्न ! ॥४५॥

स्वभक्तों के कल्याण करने के प्रयत्नवाले हे प्रभो ! आपने कभी भी स्वजनों के दुःख को नहीं सहन किया है, परन्तु मैं नहीं जानता कि क्या कारण है ? जो हे तमोघ्न ! मुझ अत्यन्त दीन की उपेक्षा आप कर रहे हैं ॥४५॥

परीक्षसे चेत्तु निवेदयामि यत् किं नाथ दासस्य परीक्षणं स्यात् ।
प्रचण्डरोगार्दितमानसस्य तनौ क्षुरक्षेपणमीदृशं किम् ? ॥४६॥

कदाचित् आप मेरी परीक्षा करते हों तो हे भगवन् ! मैं कहता हूँ कि दास की भी कहीं परीक्षा की जाती है ? हे नाथ ! भयङ्कर रोगों से व्यथित पुरुष के शरीर में कहीं छुरा मारा जाता है ? आपकी यह परीक्षा करना, अत्यन्त रोगी के शरीर में छुरा भोंकना जैसा ही है ॥४६॥

माता पिता वा तनया विनेयास्तन्वन्ति साहाय्यमि मे न दुःखे
एतच्छ्रुतं चाप्यनुभूतमेतत्परं तवौदास्यमतीव बाधते ॥४७॥

हे नाथ ! यह तो मैंने सुना है कि दुःख में माता, पिता, पुत्र और सेवक आदि सहायता नहीं करते । इसका अनुभव भी किया है, परन्तु हे नाथ ! आपकी उदासीनता मुझे अत्यन्त पीड़ित कर रही है ॥४७॥

कुर्वन्तु कामं भवबन्धबद्धा प्रेमाधिवीक्ष्यैव गुणांश्च कांश्चित् ।
किन्तु त्वदीये हृदये कथं मे महामहेशास्ति गुणेक्षणेच्छा ? ॥४८॥

हे नाथ ! जो सांसारिक बन्धनों से बंधे हुए हैं, वे भले ही किन्हीं गुणो को देखकर प्रेम करें, परंतु हे सर्वेश्वर ! आपके हृदय में मेरे गुणों के देखने की इच्छा क्यों हुई है ? ॥४८॥

वित्तं मतिर्भक्तिरुदारवृत्ते तिष्ठेन्मयि द्वारि तवाधिवासः
सेव्येत किं नाथ मया सुखेन द्वारा तयैवास्य जनस्य मोक्षः ॥४९॥

यदि धन, बुद्धि और भक्ति मुझ में होती तो हे उदारवृत्तिवाले नाथ ! आपके द्वार पर मैं क्यों निवास करता ? धन आदि के द्वारा ही सुखपूर्वक इस जन का मोक्ष हो जाता ॥४९॥

यदि प्रभुत्वं रघुनाथ तेऽपि सन्तिष्ठते भक्तगुणानपेक्ष्य ।
तदा कथं ते भवरोगखिन्नः समाश्रयेत्कोपि पदारविन्दम् ॥५०॥

हे श्रीरघुनाथ ! यदि आपकी प्रभुता भी भक्तों के गुणों की अपेक्षा से ही है तो संसाररूप रोग से दुःखित कोई भी आपके चरणकमल का आश्रय क्या लेगा ? ॥५०॥

विलोक्य केऽपीह पदारविन्दे समुल्लसन्तं तव पारिजातम् ।
त्वामाश्रयन्ते परमेष दासो दयानिधे दीनतया प्रपन्नः ॥५१॥

हे दयानिधे ! कितने ही जन आपके चरणकमल में कल्पवृक्ष को देखकर (लोभ से) आपका आश्रय लेते हैं, परंन्तु यह दास तो केवल दीनता के कारण ही आपको प्राप्त हुआ है ॥५१॥

श्रीस्वस्तिकं स्वस्तिकरं निरीक्ष्य त्वत्पादकञ्जे त्वयि भावपूर्णः ।
लोभाच्च केचित् परमेष दासो दयानिधे दीनतया प्रपन्नः ॥५२॥

हे दयानिधे ! कल्याण करने वाले स्वस्तिक चिह्न को आपके चरणकमल में देखकर लोभ से ही कितने ही आपकी भक्ति करते हैं, परन्तु यह दास दीनभाव से ही आपके चरणों में प्राप्त हुआ है ॥५२॥

रमारमण ! श्रीकमलामभीप्सुः प्रपद्यते त्वामिह कोऽपि नाथ !
अयं जनस्ते तु पदारविन्दरजोभिलाषापहृतस्तवाग्रे ॥५३॥

हे रमारमण ! कितने ही तो लक्ष्मी-धन की इच्छा से ही इस संसार में आपको प्राप्त होते हैं, परन्तु यह जन तो आपके चरण-कमल के रज की इच्छा से मोहित होकर आपके सम्मुख प्राप्त हुआ है ॥५३॥

वृथैव तं कल्पतरुं बिभर्षि न कल्पसे कल्पयितुं महेश !
यदि प्रपन्नस्य तवाङ्घ्रियुग्मं तनोर्विनाशं भवसाध्वसस्य ॥५४॥

हे रमेश ! यदि आप अपने चरणों में प्रपन्न पुरुष के संसार-भय के नाश करने में समर्थ नहीं हैं तो वृथा ही कल्पवृक्ष को क्यों धारण करते हैं ? ॥५४॥

वर्धिष्णु पापोपनन्त जनस्य दुःखं निहन्तुं क्षमता न ते चेत् ।
वृथा प्रयासाय दयानिधे किं द्वाभ्यां धृताभ्यां नु धनुः शराभ्याम् ॥५५॥

हे दयानिधे । यदि आप स्वजन के बढ़ने वाले पापों से प्राप्त दुःख को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं रखते हैं तो व्यर्थ में परिश्रम मात्र के लिए इन धनुष् और बाणों को धारण करने से क्या लाभ है ? ॥५५॥

निरीक्ष्य हे दक्षिण ! दक्षिणे ते भुजे सुवक्रं धनुरेतदेवम् ।
आशा विचार्य्यैव न मुञ्चतीमं जनं पतेदत्र कदापि दृष्टिः ॥५६॥

हे परम चतुर भगवन् । आपके दक्षिण भुज में टेढ़े-बाँके इस धनुष को देखकर आशा, यह विचार कर ही मुझ को नही छोड़ती है कि कदाचित् कभी इधर भी दृष्टि हो जावे । अर्थात् जब इतने टेढ़े धनुष को आप उठाये रखते हैं तो मेरे जैसे टेढ़े आपको भार न होंगे ? ॥५६॥

तव प्रफुल्लामलपङ्कजाधिरसप्रपानभ्रमरं मनो भें।
श्रियः पते त्वं सततं कुरुष्व नातोऽन्यथास्ते मम काचिदिच्छा ॥५७॥

हे श्रीपते ! आप मेरे मन को सदा अपने विकसित सुन्दर कमलचरण के रस का पान करनेवाला भ्रमर बनाइये, इससे अन्य मेरी कुछ भी इच्छा नहीं है ॥५७॥

प्राज्यं सुराज्यं न च कामयेऽहं स्वराज्यमप्याकलये तृणानि ।
त्वत्पादपाथोजरजः कणाय स्पृहा मनस्यघ मम स्फुरन्तु ॥५८॥

हे प्रभो ! मैं बड़ा भारी सुन्दर राज्य नही चाहता हूँ। स्वर्ग के राज्य को भी मै तृण समान ही मानता हूँ। मेरे मन में तो केवल आपके चरणकमल के रज कण की सर्वदा इच्छा जागती रहे, यही मेरी इच्छा है ॥५८॥

जगत्पतेऽहं जगदापदाभिर्दुरन्तदुर्बन्धनबद्धचेताः
कदा विभुक्तो नु विपद्वियुक्तस्त्वत्पादसान्निध्यमजस्त्रमीशे ॥५९॥

हे जगन्नाथ ! संसार की अपत्तियों के दुरन्त दुष्ट बन्धन से बंधे चित्तवाला, नाना विपत्तियों से छूटकर, मुक्त होकर, निरन्तर आप के चरणकमल की समीपता को मैं कब सेवन करूंगा ? ॥५९॥

वृथा कथा मास्तु तवाननाब्ज विनिःसृता याऽभयदा जनेभ्यः ॥
अतो दुरन्ताय जनाय मह्यं प्रसाददृष्टिं वितराशु नाथ ! ॥६०॥

हे नाथ ! आपके मुखकमल से निकला हुआ स्वजनों को अभयप्रद वचन व्यर्थ न हो, इसके लिये मेरे जैसे परम दुःखी जन पर शीघ्र कृपादृष्टि करिये ॥६०॥

न मादृशं चेद्विविधाघपुञ्ज निकुञ्जमध्ये विहरन्तमज्ञम् ।
करोषि पूतं रघुनन्दनाशु किं पावनत्वं तव पापिनां भोः ॥६१॥

हे श्रीरघुनन्दन ! यदि नाना प्रकार के पाप समूह के कुञ्जों में विहार करते हुए मेरे जैसे अज्ञ को आप शीघ्र पवित्र नहीं करते हैं तो आप में पतित पावनता क्या है ? ॥६१॥

जाग्रज्जजगज्जालमहेन्द्रजाल विभ्रान्तबुद्धि रघुवंशनाथ ।
करे गृहाणाशु दयां विधाय समुद्धर प्रापय धाम नैजम् ॥६२॥

हे श्रीरघुवंशनाथ ! प्रस्तुत जगत्जालरूप महेन्द्रजाल से भ्रान्त बुद्धि वाले मेरे हाथ को शीघ्र पकड़िये । दया करके मेरा उद्धार कीजिये और अपने धाम में ले चलिये ॥६२॥

त्वत्पादकञ्ज प्रसृताधिरस्यरसं पिबन्तं तु मनोद्विरेफम् ।
महामहोमोहमतङ्गजोऽयं प्रपीडयन्नाथ निवारणीयः ॥६३॥

हे नाथ ! आपके चरणकमल से निकले हुए स्वादिष्ट रस को रसपान करते हुए मेरे मनरूप भ्रमर को, महा उत्साही मोहरूप गज पीड़ित कर रहा है। इसे दूर भगाइए ॥६३॥

तवाप्तिमार्गे व्रजतो जनस्य तवैव माया परिपन्थितायाः ।
पदं समेत्य भ्रमयत्यजस्त्रं जनं ततस्तां कुरु नाथ दूरम् ॥६४॥

आपकी प्राप्ति के मार्ग में जाते हुए जनों को आपकी माया ही वैरिणी बनकर निरन्तर घुमाती है, अतः उसे दूर करिये ॥६४॥

न मोहमाप्तोऽसि कदापि तस्मात्तज्जन्यमीशेषदपीह दुःखम् ।
न वेत्सि, यो यन्न च वेत्ति तस्य कथं महत्त्वं स बुधोषि वेत्तु ॥६५॥

हे ईश ! आप कभी भी मोह की प्राप्त नहीं हुए हैं, अतः मोह के थोड़े से भी दुःख को आप नहीं जानते । जो जिसे नहीं जानता है वह विद्वान् हो तो भी उसके महत्त्व को कैसे जान सके ? ॥६५॥

जगत्पितृत्वं तव देवदेव जगत्प्रसिद्धं जगतां महेश !
संपालनादेव ततः पृथक्त्वं पृथक्करिष्यत्यशं ततस्त्वाम् ॥६६॥

हे देवों के भी देव ! जगत् के पालन करने से ही जगत्-प्रसिद्ध आप जगत्पिता कहे जाते हैं। तब जगत् के पालन का पार्थक्य आपको जगत्पिता के पद से अवश्य पृथक् करेगा ॥६६॥

भवोद्भवोद्भीतिभरप्ररूढ प्रचण्डचण्डांशुमयूखतप्तः ।
त्वत्पाद सत्पादपमाश्रितोस्मि कथं न रक्ष्यस्तव तज्जनोऽयम् ॥६७॥

हे भगवन् ! संसार के भयरूप प्रचंड सूर्य की किरणों से तपे हुए मैंने आपके चरणरूप सुन्दर वृक्ष का आश्रय लिया है, अतः यह जन आपका रक्ष्य क्यों नहीं है ? ॥६७॥

आध्यायतस्त्वां परिहाय सर्वमुपेक्षितस्यापि न मेऽस्ति ज्ञानिः।
त्वमेव सर्वेषु जनेषु तावद्धास्यास्पदं संव्रजितासि नूनम् ॥६८॥

हे दीनबन्धो ! सब कुछ छोड़कर केवल आपका ही ध्यान करते हुए तथापि उपेक्षित मेरी तो कुछ भी हानि नहीं है, परन्तु आप ही सर्वजनों के बीच में हास्यास्पद बनेंगे ! ॥६८॥

गुणानुपश्रुत्य तवान्तिकं मे समागतस्याथ निवर्तितस्य ।
गतिर्भवेत् का नु परं त्वमास्यं कथं प्रभो दर्शयितासि भूषु ॥६९॥

आपके गुणों को सुनकर आपके पास मैं आया । अब मैं लौट जाऊँ तो इसमें मेरी क्या गति होगी ? परंतु हे नाथ ! आप अपने भक्तों में कैसे मुँह दिखायेंगे ? ॥६९॥

परं कठोरं हृदयं स्वभक्तं रघूत्तमस्यास्ति निराकरिष्णोः ।
एवं परीवाद विवर्णजालं ततः कथं रोत्स्यसि विश्वनाथ ॥७०॥

स्वभक्त को निराकरण करनेवाले श्रीरघुनाथजी का हृदय बहुत कठोर है, इस प्रकार से निन्दावचन को हे विश्वनाथ ! आप कैसे निवृत्त करेंगे ? ॥७०॥

सकृत्प्रपन्नाय जनाय नित्यं ददाम्यभीति नितरामितीश ।
वदन्तमारभ्य न पालनत्वाद् वचश्च्युतं त्वां वद विश्वसेत् कः ॥७१ ॥

एक बार भी जो कोई मेरा प्रपन्न होता है, मैं उसे सर्वदा अभयदान देता हूँ, इस प्रकार से कहनेवाले तथा मेरी रक्षा न करने के कारण अपने वचन से च्युत हुए आपका हे नाथ ! भला आप ही कहिये, आज से कौन विश्वास करेगा ? ॥७१॥

यमं वशीकृत्य पदारविन्दं स्थितं सदा संस्मरतश्च पुंसः ।
का नाम लोकेश्वर तावकस्य प्रोदेतु भीतिस्तु परेतमर्तुः ॥७२॥

यमराज को भी अपने वश में रखने वाले आपके श्री-चरणों को स्मरण करने वाले जनको, हे लोकेश्वर ! यमराजका क्या भय हो सकता है ? ॥७२॥

निरङ्कुशं मे विचरन्म नःत्वं दयानिधे पादसरोजमध्ये ।
स्थितं गृहीत्वाङ्कुशमद्य सद्यो हिताय मे नाथ वशीकुरुष्व ॥७३॥

हे दयानिधे ! मेरा मन निरंकुश होकर इधर-उधर भटक रहा है। आपके चरणकमल में जो अङ्कुश है उसे लेकर मेरे हित के लिये हे नाथ ! मेरे मन को वश में कर दीजिये ॥७३॥

त्वत्पादपाथोजरथस्थितं तं वाञ्छत्यदः संक्रमितुं मनो मे ।
अश्वं ततो व्युत्क्रमणं विधातः पदेन ते ताडय दीनबन्धो ! ॥७४॥

हे दीनबन्धो ! आपके चरण कमल में जो रथ के साथ घोड़ा जुड़ा हुआ है, मेरा मन उस घोड़े के वेग को अतिक्रमण करने की इच्छा कर रहा है। अतः हे नाथ ऐसा व्युत्क्रम-अनुचित कार्य करने वाले उस मेरे मन को अपने चरण से ताडन कीजिये ॥७४॥

नागं प्रभो सन्दिश पादकञ्जस्थितं मनोमारुतमद्य मेऽसौ ।
पिबत्वजस्त्रं च ततो विमुक्तः सुखं प्रयाणं पथि ते करोमि ॥७५॥

हे प्रभो ! आपके चरणकमल में जो नाग विराजमान है, उसे आज्ञा दीजिये कि वह मेरे मनरूप वायु को पी जावे, जिससे कि उस दुष्ट से छूटकर आपके मार्ग में सुखपूर्वक प्रयाण कर सकूँ ॥७५॥

त्वत्पादकंजं न नरः स्पृशेच्चेत् संस्थापितः किं चरणे नरोऽसौ ।
त्वं चेत्करिष्यस्यथ पक्षपातं न्यायः क्व नेयो भगवंस्त्वयाऽसौ ॥७६॥

हे भगवन् । कदाचित् आप यह कहें कि आपके भी चरणों के स्पर्श करने का मनुष्य अधिकारी नहीं है तो बताइये कि अपने चरण में उस नर को क्यों बैठा रखा है ? प्रभो ! यदि आप ही पक्षपात करेंगे तो न्याय को आप कहाँ भेजेंगे ? ॥७६॥

षडेव मे वैरिण उल्लसन्ति लसन्ति ते नाथ पदेऽष्ट कोणाः ।
प्रत्येकमेकैकमभिक्षिपेथाः शिवं मम स्यात् तव कोणपूर्तिः ॥७७॥

हे नाथ ! मेरे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य केवल यह छः ही शत्रु हैं और आपके चरणकमल में आठ कोण हैं। तो हे नाथ ! मेरे एक-एक शत्रु को एक-एक कोने में डाल दीजिये न ! इससे मेरा तो कल्याण हो जावेगा और आपके खाली पड़े हुए कोने भर जावेंगे ॥७७॥

हलं तवाङ्घ्रिस्थमये महेश कृषत्वघक्षेत्रमवोप्य नाथ ।
नेत्राश्रुवाभिस्तव भक्तिबीजं सिञ्चामि मोक्षाख्यफलं युदेतु ॥७८॥

हे महेश ! आप अपने चरणकमल में स्थित हल को मेरे पाप-क्षेत्र को जीतने दीजिये । जुत जाने पर उसमें भक्ति-बीज बोकर नेत्राश्रु जल से उसे मैं सींचूँगा । उसमें से मुझे मोक्षफल मिलेगा ॥७८॥

संसारसंसारजलप्रवाहे पतन्निमज्जामि रघुप्रवीर ।
पदस्थितेन स्वशरेण तं त्वं विशोष्य पापापह पाहि दासम् ॥७९॥

अत्यन्त वेग से चलनेवाले संसार जलके प्रवाह में पड़ा हुआ मैं डूब रहा हूँ। हे रघुप्रवीर ! आपके चरणों में जो बाण हैं, उससे जैसे लङ्कागमन समय में समुद्र को सुखाया था, वैसे ही सुखाकर मुझ दास की रक्षा करिये ॥७९॥

न कामयेऽहं मणिमण्डपं ते निवासहेतो रघुवंशवीर ।
तत्केवलं त्वच्चरणारविन्दं प्रकामये सञ्चलदुत्पताकम् ॥८०॥

हे रघुवंशवीर ! मैं अपने निवास के लिये आपका मणि-मण्डप नही चाहता हूँ । मैं तो केवल उस चरणकमल को चाहता हूँ जिसमें चञ्चल लम्बी पताका उड़ रही है ॥८०॥

यदा यदा धावति नाथ तेऽयं दासस्त्वदर्थं तु कलिस्तदेमम् ।
रुणद्धि रुन्ध्यद्य मुसल्यमेनमयोग्रतस्त्वच्चरणस्थितेन ॥८१॥

हे नाथ ! जब-जब यह आपका दास आपके लिये दौड़ता है, तब-तब वह कलि इसे रोकता है । हे भगवन् ! यह मूसल से मारने योग्य है और आपके चरण में मूसल विराजमान है, अतः उसे लेकर इस कलि को रोकिये ॥८१॥

त्वत्पादकञ्जस्थितमेतदब्जं निरीक्ष्य लोलं स्पृहयालु जातम् ।
मनो मदीयं रघुनाथ ! तत्त्वं रन्तुं तदाज्ञापय दीर्घकालम् ॥८२॥

हे श्रीरघुनाथजी ! आपके चरणकमल में स्थित कमल को देखकर चञ्चल मेरा मन लोभी बन गया है । अतः हे प्रभो ! दीर्घकाल तक खेलने के लिये उस कमल को इसे दे दीजिये ॥८२॥

कार्पण्यमित्थं वहसे किमघ लोकोत्पवित्रीं सरयूं पदे स्वे ।
संस्थाप्य नालोकयसे च पादं कथं जनेष्वास्त इयान् प्रकोपः ? ॥८३॥

हे भगवन् ! आप इतने कृपण क्यों हो गये हैं ? जगत को पवित्र करनेवाली श्रीसरयूजी को चरण में रख लिया है और भक्तों को उनका दर्शन भी नहीं करने देते हैं। स्वजनों के ऊपर इतना अधिक कोप क्यों है ? ॥८३॥

वक्रो वसत्यत्र विधू रमेश ! वामे पदे तस्य च साहचर्य्यात् ।
वक्रत्वमेतत्तव तत्स्वभावे संक्रान्तमेतद्यदि तर्हि चित्रम् ॥८४॥

हे भगवन् ! आपके वामचरण में द्वितीया का वकचन्द्र रहता है। उसके संसर्ग में यदि आपके उस मधुर और सरल स्वभावमें वक्रता आ गयी हो तो बड़ा आश्चर्य है ? ॥८४॥

सर्वसहा पादमुपास्य देव ! वसुन्धरा तिष्टति तावतापि ।
सर्वसहत्वं सहसे न चेत्त्वं हतास्तदा मादृश एव नाथ ॥८५॥

हे देव ! सब कुछ सहन करनेवाली भगवती वसुन्धरा आपके चरण में निवास करती है तो भी आप सर्वसह नहीं होते हैं। मेरे जैसे अपराधियों को नहीं सहते हैं ? तब तो हे नाथ मेरे जैसे दीन तो मारे गये ! ॥८५॥

वीणे प्रवीणासि निरञ्जनस्य पादे स्थिता रञ्जयितुं जनानाम् ।
मनांसि तत्किन्त्वमपीह मेऽद्य मनः प्रसादाय न यत्नशीला ॥८६॥

निरञ्जन भगवान् के चरण में रहनेवाली हे वीणे ! तुम भक्तजनों के चित्तों को रंजन करने में बड़ी प्रवीण हो । तो भला तुम भी आज मुझ जन को प्रसन्न करने के लिये यत्न क्यों नही करती हो ? ॥८६॥

क्रोधश्च कामश्च मदश्च लोभो मोहश्च मात्सर्यमये प्रभोऽद्य ।
स्थिताः समादाय चमूं रणाय कुर्यां च किन्नाथ गदान्विताङ्घ्रे ॥८७॥

हे नाथ ! काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये सब आज अपनी सेना लेकर युद्ध के लिये खड़े हैं। हे चरणों में गदावाले भगवन् ! कहिये क्या करूं ? ॥८७॥

संसारहालाहलमद्य पीत्वा म्रिये जगन्नाथ न पासि चेत्त्वम् ।
किं स्यात् त्वदीयाङ्घ्रिसरोजगेनामृतेन चेत्ते स्वजना मृताः स्यु ? ॥८८॥

हे जगन्नाथ ! यदि आप नहीं रक्षा करते तो मैं आज संसार रूपी विष को पीकर मरता हूँ। परन्तु हे प्रभो ! यदि आपके भक्त जन मर जावें तो आपके चरणों में रहे अमृत का क्या उपयोग होगा ? ॥८८॥

वंशीविभूषामहिताब्जपाद मद्दृष्टिघण्टापथमेत्य राम !
विहारमाहारय तेन नित्यं सुखं दृशोर्मेऽतिसुखं तवापि ॥८९॥

हे वंशी से शोभित चरणवाले प्रभो ! श्रीराम ! मेरे नेत्ररूप राजमार्ग में आकर विहार करिये । इससे मेरे नेत्रों को भी सुख मिलेगा और आपको भी ॥८९॥

अहो मया यानि कृतान्यघानि न तानि सम्मान्ति मयि प्रभोऽद्य ।
संस्थापनार्थं मम नाथ तेषां घटं पदस्थं कृपया प्रदेहि ॥९०॥

हे भगवन् ! मैंने जितने पाप किये हैं वह अब मुझ में समाते नहीं है। अतः आपके चरण में जो घट है उसे उन्हे रखने के लिये कृपया दीजिये ॥९०॥

अथापि सन्धेक्षि न तान्यघानि मास्यन्ति तत्रेति तदा दयातः ।
कुण्डं प्रदेहि स्वपदाब्जसंस्थं होष्यामि तत्रैव समानि तानि ॥११॥

कदाचित् आपको यह सन्देह हो कि मेरे पाप उस घट में भी नहीं समावेंगे तो हे महाराज ! अपने चरणस्थ कुण्ड को दे दीजिये । उसी में मैं सब पापों का होम कर दूँगा ॥९१॥

त्वत्पादमूलं समुपेत्य नाथ ! सीदामि चेदादिश दीनबन्धो ! ।
व्रजानि कुत्राशरणः शरण्य ! कियद्विषीदामि विषण्णचेताः ॥९२॥

हे दीनबन्धो ! आपके चरणों में भी आकर यदि मैं दुःखी होता हूँ तो हे शरण्य ! आप बताइये कि अशरण मैं कहा जाऊँ? दुःखित चित्तवाला कब तक दुःखी होता रहूँ ? ॥९२॥

कृपां कृपानाथ तथा विधेहि क्षणार्धमप्यस्तु मनो यथा मे ।
न त्वत्पदाब्जस्मरणं विना न त्वदीयनामस्मरणं विना वा ॥९३॥

हे कृपानाथ ! ऐसी कृपा करिये कि मेरा मन आधा क्षण भी आपके चरण और नामके स्मरण बिना न रहे ॥९३॥

विलोक्य दोष्णोर्बहु निष्ठुरत्वं तावाशु मुक्त्वा रघुवीरपादौ !
प्रपन्नरक्षापरिबद्धबुद्धी युवां श्रये रक्षतमाशु दासम् ॥९४॥

हे श्रीरामजी के युगलचरण ! मैं भगवान् के हाथों की निष्ठुरता देखकर, उन्हें छोड़कर, प्रपन्नजनों की रक्षा करने वाले आपका ही आश्रय लेता हूँ। इस दास की शीघ्र रक्षा करें ॥९४॥

हे राम ! बाहू मम रक्षणार्थमुत्थापयेर्वा न च वा परन्तु ।
चरणाम्भोजस्यरजः प्रदाने श्रमोऽस्मि को नाम कृपानिधान ॥९५॥

हे श्रीरामजी ! मेरी रक्षा के लिये अपना बाहु आप उठावें या न उठावें परन्तु हे कृपानिधान ! अपने चरणकमल के रज देने में आपको क्या श्रम होता है ? ॥९५॥

त्वं दीनबन्धुस्त्वयमस्ति दीनः कृपापरस्त्वं दयनीय एषः ।
त्वं रक्षकश्चैष तवास्ति रक्ष्यः कस्तद्विलम्बे जगदीश ! हेतुः ॥

हे जगदीश ! आप दीनबन्धु हैं और मैं दीन हूँ। आप कृपालु हैं और मैं कृपा का पात्र हूँ। आप रक्षक हैं और मैं रक्ष्य हूं, तब विलम्ब का क्या हेतु है ?॥९६॥

हे रामहस्तौ श्रृणुतं वचो मे युवां तु धत्थः सशरं हि चापम् ।
पादौ तु लक्ष्मीमथ पारिजातं सुदर्शनं शेषशराम्बरं च ॥९७॥
ततोऽभिमानी युवयोः सुबाहू नित्यं च वामेव शिवाय भूयात् ।
प्रयोजनं मे तु परं पदाभ्यां कदाप्यपेक्ष्यो न भवामि ताभ्याम् ॥९८॥

हे श्रीरामजी के दोनो बाहु ! मेरी बात सुनिये ! आप तो केवल धनुष् और बाण धारण करते हैं और चरण तो लक्ष्मी, कल्पवृक्ष, शेष, शर, अम्बर आदि अनेक उत्तम वस्तुओं को धारण करते हैं ॥९७॥

अतः हे बाहु ! आपका यह अभिमान आपके ही कल्याण के लिये हो । मुझे आपकी आवश्यकता नही है। मुझे तो केवल भगवान् के चरणों से प्रयोजन है और वे मेरी उपेक्षा न करेंगे ॥९८॥

कृतो वहेथे नु वृथाभिमानं कदापि कञ्चिन्न तारयित्वा ।
अनन्तपारानधमान् क्षणेन मौनं समुद्धार्य पदो जयेताम् ॥९९॥

हे श्रीरामबाहु ! कभी किसी को भी तारे बिना इतना व्यर्थ का अभिमान आप क्यों धारण करते हैं ? जय हो उन चरणों का, जिन्होने अनन्त अधमजनों को क्षण भर में पार कर दिया तो भी मौन बेठे हैं ॥९९॥

भक्तीरुपालम्भगिरो निशम्य क्षणं विहस्यैव भयानुवृत्तिम् ।
अपाहरञ्छ्रीहरिरेष हस्तसमुद्रया सञ्चयतादजस्त्रम् ॥१००॥

भक्त के इस प्रकार के उपालम्भ के वचनो को सुनकर हंसकर, भय के आगमन को हस्तमुद्रा से दूर करते हुए भगवान् श्री रामजी सर्वदा विजयी रहें ॥१००॥

स्तोत्रं पवित्रं रघुपुङ्गवस्य प्रेम्णाऽसकृद्वापि सकृत्पठेद्यः
सद्धाम धामाधिगतः स तस्य पुनर्न संसारपथं प्रयाति ॥१०१॥

इस पवित्र स्त्रोत को यदि कोई एक बार भी प्रेम से पढ़ लेगा तो वह परमपवित्र तेजवाले भगवद्धाम में प्राप्त होकर पुनः संसार में न आयेगा ॥१०१॥

॥ इति श्री परमहंसपरिव्राजक जगदगुरु रामानन्दाचार्यैः स्वामि श्रीभगवदाचार्य महाराजैः १९८४ तमे विक्रमसम्वत्सरे प्रणीतः प्रपन्नकल्पद्रुमः समाप्तः ॥